दी नेहु जर्नल, वर्ष : ५, संख्या : १ व २, २००७

हिन्दी उपन्यासों में पूर्वोत्तर भारत

गोपाल प्रधान

आज जिसे हम 'उत्तर पूर्व' कहते हैं वह स्वतंत्रता और विभाजन से निर्मित भौतिक और मानसिक भूभाग है। स्वतंत्रता से पहले 'नार्थ-ईस्ट फ्रंटियर एजेंसी' (नेफा), अर्थात् वर्तमान अरुणाचल प्रदेश, वैसे ही था जैसा पश्चिमी सीमा पर पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत। वर्तमान पूर्वोत्तर भारत के शेष क्षेत्र पहले तो बंगाल के अधीन, बाद में असम की कमिश्नरी के अधीन रहे। स्वतंत्रता से पहले हिन्दी साहित्य के भीतर उनका जीवन वर्णन का विषय बनता ।[१] आने वाले लोगों ने भी कोई अलग भाषिक समुदाय बनाने की बजाय द्विभाषिक होना ही बेहतर समझा। अपने भीतर, जहाँ से आए थे, वहाँ की बोलियाँ और कार्य स्थल अथवा बाजार में स्थानीय भाषा । स्वतंत्रता के बाद हिन्दी भाषी क्षेत्रों से प्रशासन में अनेक बौद्धिक लोग आए । इनके अतिरिक्त पर्यटन हेतु भी कुछ घूमंतू साहित्यकार इस क्षेत्र में आए । राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी की स्वीकृति के फलस्वरूप भी कालेजों और विश्वविद्यालयों में हिन्दी बौद्धिकों का आना जारी रहा । इसी परिवेश में हिन्दी में पूर्वोत्तर भारत पर केंद्रित साहित्य लिखा जाना शुरू हुआ है । प्रधानतः यह लेखन यात्रावृतांत और उपन्यासों में रूप में सामने आया है ।

इस आलेख में मेरा उद्देश्य मूलतः पूर्वोत्तर भारत के विभिन्न प्रांतों पर लिखे गए उपन्यासों का विश्लेषण करना है । साथ ही मेरा उद्देश्य इन उपन्यासों के लेखकों की सामाजिक स्थिति का इन उपन्यासों में प्रस्तुत यथार्थ पर पड़े प्रभाव की जो खोजबीन करना भी है, क्योंकि पूर्वोत्तर भारत के जीवन की प्रस्तुति इन लेखकों के नजरिये से प्रभावित हुई है । बर्जीनिया वुल्फ ने उपन्यास को साहित्यिक विधाओं में नवीनतम और सर्वाधिक लचीला बताया ।[२] रामचंद्र शुक्ल ने अपने लेख 'उपन्यास' में लिखा - ''बहुत लोग उपन्यास का आधार कल्पना बतलाते हैं । पर उत्कृष्ट उपन्यासों का आधार अनुमान शक्ति है, न कि केवल कल्पना ।'' आगे अनुमान के साथ यथार्थ का संबंध स्पष्ट करते हुए लिखा - ''..... ऐतिहासिक उपन्यास अनुमानमूलक और सत्य हैं, उच्च श्रेणी के उपन्यासों में वर्णित छोटी-छोटी घटनाओं पर यदि विचार किया जाए तो जान पड़ेगा कि वे यथार्थ में सृष्टि के असंख्य और अपरिमित व्यापारों से छाँटे हुए नमूने हैं ।''[३] शुक्ल जी यह बात ऐतिहासिक उपन्यासों के प्रसंग में कह रहे थे । पूर्वोत्तर भारत के बारे में लिखे गए विचारणीय सभी हिन्दी उपन्यास कमोबेश ऐतिहासिक हैं । रामचंद्र शुक्ल ऐतिहासिक उपन्यासों का आधार जिस अनुमानशक्ति को बता रहे थे, स्पष्ट है कि वह लेखक की सामाजिक स्थिति से उत्पन्न उसकी मान्यताओं का उद्घाटन करती चलती है । सौभाग्य से ये लेखक आधुनिक काल के हैं इसलिए उनके जीवन के बारे में प्रामाणिक जानकारी संभव है । इन उपन्यासों के प्रकाशन क्रम में ही इन पर विचार करना उचित होगा ।

इन उपन्यासों में पहला उपन्यास देवेन्द्र सत्यार्थी का 'ब्रह्मपुत्र' है । इस उपन्यास की भूमिका काका कालेलकर ने 'लोक युग का नहीं पुराण' शीर्षक से १९५६ में लिखी । उपन्यास के

प्रारंभ में स्वयं लेखक ने 'ब्रह्मपुत्र की भाषा' शीर्षक से दस पृष्ठों की पूर्वपीठिका भी लिखी है । गोपाल राय ने 'हिन्दी उपन्यास का इतिहास' में उसकी प्रकाशन तिथि १९५६ ही बताई है । फिलहाल बाजार में इसका जो संस्करण उपलब्ध है वह 'ज्ञान गंगा' प्रकाशन, दिल्ली द्वारा पहली बार १९९२ में प्रकाशित हुआ था ।

स्पष्ट है कि उपन्यास के लेखन और प्रकाशन का समय हिन्दी उपन्यास में 'आंचलिक उपन्यासों' की लोकप्रियता का दौर था । देवेन्द्र सत्यार्थी के बारे में भूमिका में ही काका कालेलकर ने सूचना दी है , ''श्री देवेन्द्र सत्यार्थी भारत के लोकगीतों के अनन्य उपासक हैं ।''[४] आंचलिकता के प्रति वैचारिक निष्ठा और लोकजीवन से अनुराग ने इस उपन्यास को अनूठी साहित्यिक कृति बना दिया है । उपन्यास में स्वतंत्रता आंदोलन का समय है और भूभाग ब्रह्मपुत्र में माजुली द्वीप तथा माजुली के सामने का भूभाग । ब्रह्मपुत्र दोनों भूक्षेत्रों के बीच बहता है और उपन्यास के चरित्रों की तरह ही सशक्त चरित्र है ।

शुरू में उपन्यास दिसाङमुख के लोगों के जनजीवन का मंथर गति से चित्रण करता है । इन पात्रों के मानस के निर्माण में ब्रह्मपुत्र का निर्णायक योगदान है । पूर्वपीठिका में ही इस मानस को पहचानने के क्रम में देवेन्द्र सत्यार्थी ने लिखा है, ''असमिया यथासंभव मर्यादा को नहीं छोड़ता है, पर यदि कहीं उसके आत्मसम्मान को ठेस लगा दी, तो वह बाढ़ के समय का ब्रह्मपुत्र बन जाता है । आतिथ्य में उसका जवाब नहीं। आज काम चल रहा है, तो कल की चिंता क्यों की जाए ? आनेवाली विपत्ति आएगी तो देख लेंगे । बीते संकट का क्यों स्मरण किया जाए ? पुरानी कहावत है - बाघ की सवारी करने वाले को बाघ से उतरने का गुर नहीं आता, पग-पग पर अनुभव हुआ कि असमिया को यह गुर भी आता है । ''ब्रह्मपुत्र गारा काटता हुआ और इधर को आएगा, तो हिसाङमुख और पीछे हट जाएगा ।'' यह बोल मेरे हृदय को छू गया । थोड़ा मौन रहकर मार्ग दर्शक ने कहा, ''बड़ डिकडारी' फिर उसने बताया कि दिक्कदारी (दिक्कत) का असमिया पर्यायवाची है 'डिकडारी' । 'बड़ डिकडारी' अर्थात् 'बड़ी मुसीबत है ।' मैं समझ गया कि यही वह मूलमंत्र है, जिसे एक बार होठों पर लाकर कोई भी असमिया बड़ी से बड़ी मुसीबत पर सवार हो सकता है, और मानो एक बार 'बड़ डिकडारी' कहकर वह झट बाघ के ऊपर से नीचे छलांग लगा सकता हो ।''[५]

कहावतों की भरमार इस उपन्यास की विशेषता है । तकरीबन ये सभी कहावतें पानी, नदी, सुपारी, और मछली से संबंधित हैं । इस विशद पृष्ठभूमि पर कथा प्रवाह जब शुरू होता है तो स्वतंत्रता आंदोलन में इस क्षेत्र के अवदान का गरिमापूर्ण आख्यान शुरू होता है । दिसाङमुख का एक युवक कलकत्ते में पढ़ता है और वहाँ के किसी क्रांतिकारी गुट का सदस्य है । गुट पर अंग्रेजी सरकार का दमन शुरू होने पर भागकर दिसाङमुख आता है और वहाँ से माजुली पहुँच जाता है। इधर दिसाङमुख में उसकी खोज करनेवाला दारोगा स्थानीय जनता पर बेतरह जुल्म ढाता है । इसके कारण भारत के इस सुदूर अंचल में पहली बार जुलूस,प्रदर्शन जैसी चीजों की शुरुआत होती है । इसी क्रम में स्थानीय पात्रों का कायान्तरण शुरू होता है । सीधे सादे लोग स्वतंत्रता के सिपाही बनने लगते हैं ।

दिसाङमुख में मिरी समुदाय के लोग भी रहते हैं । उनके भीतर गाँवबूढ़ा के प्रश्न पर

अस्मिताबोध जागता है । मिरी लोग 'देदूर' पूजा करते हैं जिसमें बाहरी लोगों के प्रवेश की मनाही है । उपन्यास दिसाङ्मुख में रहनेवाले मिरी लोगों के वर्णन के जरिए असमिया पहचान के तनावों को भी रेखांकित करता है ।

उधर माजुली में रहने वाले लोगों में भी उस क्रांतिकारी को पकड़ने के लिए जो उत्पीड़न किया जाता है, उसके कारण विरोध भाव बढ़ने लगता है । अंततः उस क्रांतिकारी के दो साथियों को पकड़कर जब माजुली का दारोगा ब्रह्मपुत्र नाव से पार करने लगता है तो नाव डूब जाने से तीनों की मृत्यु हो जाती है । प्राकृतिक आपदाओं की विभीषिका और उनके बावजूद मनुष्य की जिजीविषा के बीच होनेवाला संघर्ष ही उपन्यास की मुख्य कथावस्तु है और लेखक ने अत्यंत कौशल के साथ इसका चित्रण किया है । उपन्यास में स्वतंत्रता की प्राप्ति के बाद दिसाङमुख में नागालैंड की रानी गिडालू आती हैं। रानी गिडालू स्वतंत्र भारत में पूर्वोत्तर भारत के लोगों के सम्मान की गारंटी के बतौर उभरती हैं। विस्तार भय से उस उपन्यास के बारे में मैं इतना ही कहना चाहता हूँ कि पूर्वोत्तर भारत पर लिखे हिंदी उपन्यासों में यह उपन्यास जनजीवन के गहरी समझ के कारण सर्वोत्तम है।

इसी क्रम में दूसरा उपन्यास 'जहाँ बाँस फूलते हैं' आया । इस उपन्यास का प्रकाशन १९९६ में अहमदाबाद के पार्श्व प्रकाशन से हुआ । इसके लेखक श्री प्रकाश मिश्र हैं । लेखक वर्षों तक मिजोरम में खुफिया प्रमुख के रूप में रहे थे और उसी अनुभव के आधार पर यह उपन्यास लिखा गया है । उपन्यास का कथा समय १९६८ का लालडेंगा का प्रसिद्ध विद्रोह है । हालाँकि कथायुक्ति के बतौर लेखक ने प्राक्कथन में लिखा है, ''यह उपन्यास ऐतिहासिक नहीं है ।.....अगर किसी के जीवन के टुकड़े से कोई अंश इत्तेफाक करता मिलेगा तो सिर्फ इसलिए कि कल्पना की दीवार कहीं न कहीं यथार्थ की बुनियाद पर ही बनती है । फिर भी यह उपन्यास आम पाठक को पूर्वोत्तर भारत की समस्या समझने की खासी सामग्री देगा ।''[६] ब्रह्मपुत्र ने पूर्वोत्तर भारत को जिस समय छोड़ा था, वह स्वतंत्र भारत में आश्वासन का बिंदु था । स्वतंत्र भारत में उस कथा को श्रीप्रकाश मिश्र ने आगे बढ़ाया है ।

काफी लंबे समय तक प्रशासनिक इलाकों में रहने के कारण श्रीप्रकाश मिश्र को प्रशासनिक मशीनरी की गहरी जानकारी थी और दीर्घावधि के कारण मिजो समाज से निकट का परिचय भी । इसलिए उपन्यास में शासन तंत्र के प्रत्येक अंग की कारगुजारियों का विस्तृत वर्णन है । मिजो भाषा के शब्द भी प्रचुरता से प्रयुक्त हुए हैं । मिजो भाषा का एक शब्द है - वाइ । इसका अर्थ है बाहरी । केंद्रीय शासन प्रशासन से जुड़ा प्रत्येक व्यक्ति मिजो समाज के लिए बाहरी है । मिजो लोग भीख माँगना सबसे निकृष्ट काम समझते हैं । बाहरी लोगों अर्थात् केंद्रीय सरकार के कार्यालयों से चीजें उठा लाएंगे, कभी-कभी जबर्दस्ती भी, पर भीख नहीं माँगेंगे । कथाभूमि डोपा नामक गाँव है । इसी गाँव को केंद्र में रखते हुए कथाकार ने मिजो समाज की अंदरूनी हलचल को पकड़ने की कोशिश की है ।

बाँस फूलने की परिघटना वैसे तो सार्वभौमिक है और इसके साथ अपशकुन भी जुड़ होता है, लेकिन चूँकि मिजोरम का मुख्य उत्पाद बाँस ही है इसलिए बाँस फूलने के साथ वहाँ विशेष भय जुड़ जाता है । इसके लिए मिजो भाषा में 'मउटम' नामक शब्द ही है। मिजोरम के बहाने समूचे पूर्वोत्तर भारत की समस्या को प्रस्तुत करने का लेखक का दावा अनुचित नहीं लगता जब हम देखते

हैं कि संगठित धर्मों के बाहर रह गईं जनजातियाँ अपनी अस्मिता की तलाश में तरह तरह से अपने आदिमूल खोजती हैं । उपन्यास का मुख्य पात्र रूआलखुमा एक जगह कहता है-- ''सवाल उठता है कि वह यहूदी दाऊद की बारहवीं कौम गयी कहाँ ? उसकी खोज में मूसा आए और कश्मीर-अफगानिस्तान की सीमा पर दफन हो गए । उसकी खोज में ईसा आए और वह भी कश्मीर में दफन हो गए। वे लोग उसे खोज नहीं पाए । क्यों ? क्योंकि यह बारहवीं कौम कब की कश्मीर पारकर लद्दाख, तिब्बत, चीन से होती हुई शान देश में पहुँच गई थी । हमारे पूर्वज इस कौम की अगली पीढ़ी बन उस परम खुदा 'माह येव' को प्यारे होते जाते थे और अगली पीढ़ी कुछ और पूरब खिसक जाती थी । इस तरह जो मिस्त्रि फराओं के गुलामी से बचकर निकले थे उनकी संतान निरंतर आजाद रहती हिमालय की वादियों, जंगलों में घूमती आज भी आजाद है । वे ही लुरोई, राल्ते, पाइते, पोई, लाखेर, मणिपुर की मेइतेई, कछार हिल्स की मिकिर, कछारी, थाङकुल, राङकुल ..... इसीलिए हमारे पुरुषों ने कभी सभ्यता के सिद्धांतों को नहीं अपनाया, बल्कि अपनी जिन परंपराओं, पूजा पद्धतियों को भूल गए थे, उसे पुनर्जीवित करते गए..... हमें भी करनी है ।''[७]

अपनी इसी संकल्प के कारण उपन्यास मिजो जीवन की विशेषताओं को भरपूर प्रस्तुत करता है । पहनने के लिए पुआन, पीने के लिए थिङपुई शेन, सामाजिक कार्यकलाप के लिए जालबुक, मिजो समाज का खुलापन जो उनकी मौके बेमौके की हँसी में व्यक्त होता है - यह सब मिजोरम की प्राकृतिक समृद्धि के साथ घुल मिलकर पूरे उपन्यास में छिटका हुआ है । दुखद तथ्य के बतौर लालडेंगा के विद्रोह के बाद समूचे मिजोरम में मौजूद सेना की बर्बरता बार-बार टीस की तरह उठती रहती है । हवा सिंह नामक एक पात्र है जो झूम के लिए गए पाँच नौ जवानों को मेडल पाने के लिए 'मुठभेड़' में मार डालता है, फिर एक स्थानीय पादरी का लिंग चिरवाकर उसमें नमक भरवा देता है। इसी हवा सिंह को जब नौजवानों ने मार डाला तो कर्नल ने उसका 'शहीद स्मारक' बनवाया।

एक जगह विस्तार से उपन्यासकार ने अपने अनुभव के आधार पर पूर्वोत्तर भारत की समस्या, जिसे निहित स्वार्थ के चलते समस्या बनाया गया, का भंडाफोड़ किया है । ६८ के 'मडरम' में ''वर्षों से सोई केंद्रीय सरकार को जाने कैसे किसी लालछऊ चींटी ने काट खाया कि उसका एक पंजा फड़का और एक अंगुली पूर्वोत्तर भारत की ओर चल पड़ी । उसका एक पोर गुआहारी की सड़कों पर जाँचकर पाया कि समस्या इतनी गंभीर नहीं है, जितनी महंती ने बना दी है । वास्तव में विभिन्न विभागों के छोटे कर्मचारी अपनी तनख्वाह व भत्ते नागालैण्ड में तैनात अपने समकक्षियों के बराबर पाने के लिए 'मिजोहिल्स' को डिस्टर्ब्ड एरिया घोषित कराने पर तुले हुए हैं .....''[८]

उपन्यास के अंत में रूआलखूमा की डायरी मिलती है जिसमें उसकी आठ कविताएँ हैं -- मिजोरम के दुर्भाग्य और लहूलुहान यथार्थ पर आँसू बहातीं ।

इस क्रम में तीसरा उपन्यास 'मुक्ति' १९९९ में वाणी प्रकाशन से प्रकाशित हुआ। इसके लेखक डॉ. महेंद्रनाथ दुबे हैं । डॉ. दुबे का परिवार आजमगढ़ से असम आया था और यहीं कछार जिले के वैलापुल में बस गया था । डॉ. दुबे ने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से हिन्दी में एम. ए. करने के बाद कुछ दिनों तक वहीं अध्यापन किया, फिर पं. विद्यानिवास मिश्र के बुलावे पर आगरा हिन्दी

संस्थान गए और वहाँ से निदेशक के पद से सेवानिवृत्त हुए । उपन्यास के ब्लर्ब से सूचना मिलती है कि - '१४ अगस्त १९४७ की अर्धरात्री को स्वतंत्रता की उद्घोषणा से लेकर १९६२ में चीन के आक्रमण की पूर्वबेला तक के कालखंड में यह समूचा क्षेत्र किस तरह संघर्षरत रहा, इसी का एक दस्तावेज है यह उपन्यास 'मुक्ति ।''[९] कथाक्षेत्र दक्षिण असम के कछार जिले का मुख्यालय सिलचर है। इसी कारण इसमें स्वतंत्रता की बजाए विभाजन की व्यथा गहरी है । विभाजन की त्रासदी का उल्लेख करते हुए ब्लर्ब में ही अंकित किया गया है, ''डॉ. दुबे ने लक्ष्य किया कि राजनीतिज्ञों ने देश के भूगोल के साथ जो खिलवाड़ किया है, उससे साधारण जनता के कष्टों का बोझ निरंतर बढ़ता रहा है । इनका अपना गाँव बांगलादेश का सिलहट बिलकुल पड़ोस में है । पूरब में मणिपुर की इम्फाल, दक्षिण में मिजोरम की आइजोल, दक्षिण पश्चिम में त्रिपुरा की अगरतला राजधानियाँ बहुत पास हैं ।..... बँटवारे ने हालात ऐसे कर दिए कि एक छोटे से गलियारे के अलावे शेष भारत की अपेक्षा असम के इन सात प्रदेशों की सीमाएँ चारों ओर से भूटान, तिब्बत, चीन, म्याँमार और बांगलादेश से ही मिलती हैं।''[१०]

इतने सारे वास्तविक संदर्भों के बावजूद लेखक ने कथायुक्ति के बतौर 'सब कोरी गप्प है' शीर्षक भूमिका में लिखा है, ''पूरी तरह कपोल कल्पना से रचित 'मुक्ति' में कुछ भी ऐसा नहीं है जिसकी किसी भी यथार्थ स्थान, किसी भी जीवंत पात्र, किसी भी प्रामाणिक वक्तव्य से कोई संबंध हो.....।[११] कछार का पैलापुल भोजपुरी भाषी, मणिपुरी, बांगलादेश से आए शरणार्थियों की मिश्रित आबादी का क्षेत्र है । इसकी बनावट के मूल खोजते हुए लेखक विभाजन के समय सिलहट में पनपते हिन्दू-मुसलमान वैमनस्य से शुरू होता है और सिलहट के ब्राह्मण बेड़िया से पलायन करने वाले हिन्दू परिवारों के वर्णन के जरिए कछार आनेवाले शरणार्थियों की व्यथा–कथा कहता है । कछार के चाय बगानों में कार्यरत भोजपुरी भाषी मजदूरों के शोषण के जीवंत चित्र प्रदान करते हुए सामान्य जन के संघर्ष और त्याग के चटक चित्र प्रस्तुत करता है । इसी क्रम में उपन्यास की नायिका मुक्ति का जन्म होता है जो बाद में बाप दादो का घर देखने बंगलादेश जाती है । इस यात्रा में उसके साथ एक मणिपुरी स्त्री कियांगमाइची भी है । कियांगमाइची अपूर्व बलशालिनी मिथकीय किस्म का चरित्र बन जाती है जिसे बर्मी और चीनी सैनिकों ने युद्धविद्या का प्रशिक्षण दिया था । नायिका 'मुक्ति' कछार क्षेत्र में बांगला भाषा की राजकीय भाषा के रूप में स्वीकृति के संघर्ष का भी प्रतीक बन जाती है । मुक्ति को कियांगमाइची अपनी पुत्री के रूप में अंगीकार करती है और उसे युद्ध विद्या सिखाती है। अंत में ये दोनों स्त्रियाँ बांगलादेश जाकर वहाँ भी विद्रोह की ज्वाला भड़काती हैं ।

उपन्यास में यत्र-तत्र पूर्वोत्तर भारत की प्राकृतिक और जनजातीय समृद्धि के बारे में अल्पज्ञात तथ्य प्रमुखता से अभरते हैं । उदाहरण के लिए डॉ. दुबे कछार जिले में स्थिति भुवन पहाड़ की एक अल्पज्ञात परिघटना का विवरण देते हैं । यहाँ कभी-कभी रात के दो बजे धूप निकल आती है, फिर दो घंटे के अंधकार के बाद भोर होती है । कारण कि बर्मा की पहाड़ियों में किसी दरार से सूरज की धूप मौसम साफ होने पर खिल जाती है, फिर कोण बदल जाने पर अंधेरा हो जाता है, बाद में भोर होती है । जनजातीय समृद्धि के विवरण बहुत कुछ समाज शास्त्रीय अध्ययनों का आधार लेकर लिखे गए प्रतीत होते हैं। हिंदू, मुसलमान, ईसाई, बौद्ध तथा प्रकृति

पूजक धर्मों से बने इस मानद संकुल के विस्तृत विवरण कथा के बीच बाधा बनते हुए भी मनोरंजक ढंग से आते रहते हैं।

इस उपन्यास के जरिए डॉ. दुबे शेष भारत के साथ पूर्वोत्तर भारत के जुड़ाव पर विशेष जोर देते हैं । इसीलिए लोकप्रिय गोपीनाथ बरदोलाई के निधन और जवाहर लाल नेहरू के देहावसान पर उपन्यास के पात्र गुवाहाटी और दिल्ली चले जाते हैं । महात्मा गाँधी का निधन भी भारी क्षति के बतौर उभरकर सामने आता है । शव यात्राओं के वर्णन रेडियो प्रसारण की तरह लिखे गए हैं ।

चौथा उपन्यास 'उत्तर पूर्व' इतिहास बोध प्रकाशन द्वारा मार्च २००२ में पहली बार प्रकाशित हुआ । इसके लेखक लाल बहादुर वर्मा मणिपुर विश्वविद्यालय में इतिहास के प्रोफेसर रहे थे और उनके मणिपुर प्रवास के अनुभवों के आधार पर यह उपन्यास लिखा गया है । लेखक ने भूमिका में इस अनुभव से उत्पन्न बेचैनी का जिक्र करते हुए लिखा है, ''अर्जुन की ससुराल कहे जाने के बावजूद, सुभाष चंद्र बोस के आजाद हिंद फौज की भारत विजय योजना के एक मात्र विजय स्थल (मोयरांग) होने के बावजूद और दशकों से विद्रोह की चुनौती प्रस्तुत करने के बावजूद मणिपुर। इंडिया' में अधिकांशतः अज्ञात ही है।''[९२] उपन्यास के शीर्षक का श्लेष स्पष्ट करते हुए विष्णुचंद्र शर्मा ने टिप्पणी लिखी है, ''उत्तर पूर्व' उपन्यास का नाम प्रतीकात्मक है और उसके दो अर्थ निकाले जा सकते हैं । एक है नार्थ ईस्ट के संदर्भ में । दूसरा है जवाब मिलने से पहले सवालों के उभड़ने घुमड़ने और टकराने का मंथन ।''[९३]

उपन्यास का कथा समय ऐतिहासिक नहीं, बल्कि लेखक का समकालिक है, इसीलिए लेखक को किसी कथायुक्ति की आवश्यकता नहीं पड़ती । अलबत्ता लेखक ने 'मैं' शैली अपनाने की बजाए अपना ही प्रतिरूप पात्र प्रोफेसर बर्मन गढ़ा है जो लेखक की तरह ही विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग में प्रोफेसर हैं । इसी के कारण जाने अनजाने लेखक का परिचित विश्वविद्यालयी जीवन उपन्यास में जरूरत से ज्यादा ही जगह घेर लेता है और उसी मात्रा में मणिपुर के सामाजिक यथार्थ के उद्घाटन में बाधा भी डालता है । ऐतिहासिक कथा न होने के बावजूद मणिपुर के आधुनिक इतिहास के एक विराट नायक, इरावट सिंह, की उपस्थिति कथा में बराबर बनी रहती है ।

उपन्यास का आरंभ प्रोफेसर बर्मन की इस उलझन से होता है कि क्या सबका 'नेशन' एक ही होता है । अंबेडकर, जिन्ना, नेहरू और फिजो के 'नेशन' क्या एक ही थे? इसी दौरान उन्हें इबोहल नामक एक पागल सा व्यक्ति याद आता है । इबोहल को सेना के नासमझ सिपाहियों ने कभी एक गलतफहमी के कारण यातनाएँ दी थीं जिसके बाद से वह दिमागी रूप से कभी सामान्य नहीं हो पाया था । इसी क्रम में मणिपुर का त्रासद यथार्थ धीरे-धीरे पाइक के समक्ष खुलता जाता है । बीच-बीच में क्षेपक की तरह विश्वविद्यालय की कथा भी जारी रहती है, क्योंकि कुछ यथार्थवादियों की तरह लेखक भी संभवतः परकायाप्रवेश को यथार्थवाद का अंग नहीं मानता, स्वयं का देखा हुआ जीवन ही बताने तक महदूद रहना चाहता है ।

मणिपुरी अर्थात् मैतेयी भाषा में बाहरी लोगों के लिए 'मायांग' नामक शब्द है । इस तरह यह उपन्यास एक मायांग द्वारा मणिपुरी समाज को समझने की कोशिश है, कहीं न कहीं यह सीमा

भी लेखक को उसके देखे हुए जीवन के पार नहीं जाने देती । विश्वविद्यालय में प्रोफेसर बर्मन का परिचय आर.के. नामक सहकर्मी से होता है जो कल्चरल एक्टिविस्ट हैं । उनके एक कार्यक्रम को देखते समय बर्मन की देखादेखी उनके बड़े भाई इराबो से होती है जो बेहद चुप्पा हैं । पता चलता है इराबो युवावस्था में दिल्ली पढ़ने गए थे । वहाँ वामपंथी छात्र राजनीति के प्रभाव में आए । इसी प्रभाव में उन्होंने इराबोट सिंह पर फिल्म बनाने का संकल्प लिया था और लौटकर मणिपुर आ गए थे । ''उसी दौरान उससे कुछ ऐसे लोग मिले जिन्होंने उसकी मणिपुरी अस्मिता को ललकारा और दलील रखी कि इराबोट पर फिल्म बनाना एक जरूरी काम है पर फिलहाल तो उनके जैसे समझदर और संपृक्त व्यक्ति की जरूरत मणिपुर के क्रांतिकारियों को है ।''[१४] इराबी इंकार करता उससे पहले ही फौज ने उसके घर में हमला किया और उसे पकड़कर ले गई । यातना दी गई । स्वस्थ होने के बाद वह भूमिगत क्रांतिकारियों के साथ चला गया था । एक फौजी आपरेशन में वे पकड़ गए । उसके बाद घर पर ही रहते हैं । किसी से ज्यादा बात नहीं करते । इराबो की एक बहन थी राधा । वह भी किसी नागा को प्यार करने का जुर्म कर बैठी थी । घर के लोगों ने उसके प्रेमी की हत्या करवा दी थी । उसके बाद वह भी घर पर ही रहती थी । इन दोनों के जीवन में प्रोफेसर बर्मन का प्रवेश होता है और वे खुलने लगते हैं ।

प्रोफेसर बर्मन ईद के अवसर पर इम्फाल के पास रहने वाले अपने मुसलमान सहकर्मी के यहाँ जाते हैं । उनसे बात-चीत के जरिए मणिपुरी मुसलमानों की मणिपुरी समाज के हाशिये की स्थिति उद्घाटित होती है । 'मणिपुरी के अनोखे दरबारी इतिहास याकूयोरोल कुम्बाबा के अनुसार मुगल सेना से एक मुठभेड़ हुई थी । उसके बाद सत्रहवीं शताब्दी में पंगन कहलाने वाले मुसलमानों की एक बस्ती का जिक्र आता है । मणिपुरी मुसलमानों का इतिहास लिखने की कोशिश कर रहे जनाब खान का मानना है कि उन्हें तो इस्लाम के बारे में भी ठीक से पता नहीं था । मणिपुर में पहली मस्जिद १८७३ में बनी थी।''[१५] उपन्यास का एक पात्र रसूल अपने समुदाय की स्थिति बताते हुए कहता है, ''हम लोग तो वर्स्ट । नाइदर मैतेयी नार ट्राइवल । हमको रिजर्वेशन नहीं, नौकरी नहीं, कुछ नहीं । ज्यादातर मुसलमान गरीब । पूरा यूनिवर्सिटी में एक ओझा मुसलमान ।''[१६]

मणिपुरी समाज में महिलाओं की प्रभावी उपस्थिति के बावजूद घर का ढाँचा पितृसत्तात्मक परिवार जैसा ही होता है । इस तथ्य को भी उपन्यास उभारकर सामने लाता है। बहरहाल कथा के अंत में इराबो पुनः अपनी फिल्म के लिए उत्साहित होता है । उसके घर दिल्ली से कुछ राजनीतिक कार्यकर्ता आकर ठहरते हैं । इसी दौरान इराबो को फिर से गिरफ्तार कर लिया जाता है और उपन्यास उदासी में समाप्त होने के बावजूद अपने मूल मंतव्य को मजबूती से प्रस्तुत कर पाता है ।

पूर्वोत्तर भारत के संबंध में लिखे हिन्दी उपन्यासों की इस चर्चा के अंत में मैं जिस उपन्यास की बात करना चाहता हूँ, उसका शीर्षक है -- रूपतिल्ली की कथा । इस उपन्यास का प्रकाशन २००६ में लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद से हुआ है । इसके लेखक 'जहाँ बाँस फूलते हैं, के लेखक श्रीप्रकाश मिश्र हैं किंतु उस उपन्यास की कथाभूमि मेघालय है । लेखक ने स्वयं भूमिका लिखकर उपन्यास के कथाकाल का संकेत किया है । ''यह उपन्यास उन पाठकों को पसंद आएगा, जिन्हें गप्प पसंद आता है, क्योंकि यह निरा गप्प है । फिर भी यह पूर्वोत्तर भारत की समस्या को,

खासकर खासी जनजाति को समझने में वही भूमिका निभाएगा, जो मेरे पिछले उपन्यास 'जहाँ बाँस फूलते हैं' ने मिजो लोगों को समझने में निभाया था । अंतर यह है कि उस उपन्यास का नायक जहाँ एक राजनीतिक समस्या थी, इस उपन्यास का नायक संस्कृति है -- एक जाति की एक विशेष कालखंड की संस्कृति, जब उस जाति को अंग्रेजों द्वारा गुलाम बनाया जा रहा था । वह कालखंड १८ वीं सदी के कुछ अंतिम और १९ वीं सदी के कुछ आरंभिक दशकों का है ।''[१७]

इस उपन्यास में मेघालय की रमणीय प्रकृति आद्यंत व्याप्त है । कथा मुख्यतः एक नरबलि की घटना के इर्द-गिर्द घूमती है और इसी क्रम में खासी समुदाय में व्याप्त जादू टोने का विवरण भी प्रस्तुत करती है । साथ ही अंग्रेजों द्वारा सिलहट से गुवाहाटी तक सड़क बनाने के प्रयासों का प्रतिरोध भी खासी समुदाय के एक अन्य पक्ष का प्रतिनिधित्व करता है । प्रतिरोध का केंद्र राजा तिरोत सिंह नायक के बतौर सामने आता है, लेकिन नायक से भी अधिक सामान्य जन, खासकर 'डायन' घोषित कर दी गई एक महिला का चरित्र भास्वर होकर उभरता है। कथा मेघालय की जनजातियों की उस दुबिधा का विशेष रूप से उल्लेख करती है जिससे होकर खासी, जयंतिया और गारो समुदाय अंग्रेजों के आने के बाद गुजरा था । जयंतिया राजा द्वारा हिन्दू धर्म अपना लेना, योगियों की उस इलाके में उपस्थिति, खासी लोगों पर ईसाई धर्म को अपनाने के लिए दबाव - आदि परिघटनाएँ अंग्रेजों के प्रतिरोध और नरबलि के लिए सोनापुर से बंगालियों के अपहरण के उदाहरणों के साथ रच बसकर आंकी हुई हैं । मेघालय की जानजातियों में मौजूद 'राजा' नामक संस्था के साथ अंग्रेजी राजा की मुठभेड़ भी प्रभावी ढंग से प्रस्तुत हुआ है ।

जगह-जगह खासी लोक कथाओं और लोकगीतों का हिन्दी अनुवाद भी इस उपन्यास को 'स्थानीय रंग' (लोकल कलर) प्रदान करने में पर्याप्त सफल हुए हैं । कहीं-कहीं यथार्थ और फैटेंसी एक दूसरे में घुलमिल गए हैं । मेघालय की तीनों जनजातियाँ मातृसत्तात्मक हैं । इस सामाजिक व्यवस्था को स्पष्ट करते हुए लेखक बताता है, ''पशु चरानेवाली जाति के ये लोग नहीं थे । खुली जमीन की जब कमी पड़ती होगी तब वे जंगल का एक हिस्सा जलाकर एक साल के लिए खेती योग्य बना लेते होंगे । दूसरे साल दूसरा हिस्सा । जब तक परिवार छोटा होगा, पूरी जमीन परिवार की होती होगी । लेकिन जब परिवार बढ़कर गोत्र बना होगा, तब यह पूरी जमीन गोत्र की हो गई होगी।..... यह जमीन उत्तराधिकार में भी हस्तांतरित होती जाती होगी - गोत्र नानी से,परिवार नानी को । और परिवार नानी का पहले अपनी सबसे छोटी बेटी को, फिर इस छोटी बेटी की सबसे छोटी बेटी को । जब तक ये तीन पीढ़ियाँ - नानी, बेटी, नतिनी एक साथ रहती होंगी एक परिवार बना रहता होगा । लेकिन जब नतिनी को भी सबसे छोटी बेटी हो जाती होगी, तब परिवार टूटता होगा । जमीन बँटती होगी । इस जमीन का कर्ता, सम्हालने वाला मामा बनता होगा जैसे गोत्र की जमीन का कर्ता गोत्र मामा ।''[१८]

खासी लोगों का प्रतिरोध फैंटेसी के स्तर तक पहुँच जाता है जब कथा के अंत में रूपतिल्ली की पहाड़ी के शीर्ष पर मौजूद एक पेड़ इस बात की निशानी बन जाता है कि जब तक यह कटेगा नहीं तब तक खासी पराजित नहीं होगा । पेड़ को काटने के क्रम में भी कई मिथकीय दुर्घटनाएँ घटित होती हैं । अंततः वह पेड़ खासी प्रतिरोध के समापन के प्रतीक के बतौर कटकर गिर जाता है ।

मैंने इन उपन्यासों के संबंध में परिचयात्मक विवरण ही दिए क्योंकि इनमें से प्रत्येक लगभग चार सौ पृष्ठों का है । हिन्दी में इन उपन्यासों का आगमन एक प्रवृत्ति की तरह हुआ है जिसका स्वागत होना चाहिए । दुर्भाग्य यह है कि जैसे शेष भारत में पूर्वोत्तर भारत की तब तक चर्चा नहीं होती, जब तक कोई भीषण दुर्घटना न घटित हो, उसी तरह पूर्वोत्तर भारत के अधिकांश विश्वविद्यालयों में हिन्दी विभाग होने के बावजूद उनके पाठ्यक्रम में इन उपन्यासों का कोई स्थान नहीं है । इन उपन्यासों की कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जो अन्य जगहों पर केंद्रित कथा साहित्य में नहीं मिलतीं । इनके अध्ययन अध्यापन से विद्यार्थियों के परिवेश के साथ हिन्दी साहित्य को जोड़ने में मदद मिलेगी।

इन उपन्यासों की पहली विशेषता तो यही है कि इन सबमें भास्वर स्त्री चरित्रों की मौजूदगी है । भारत के अन्य क्षेत्रों के मुकाबले इस क्षेत्र में स्त्री समुदाय अधिक अधिकार संपन्न है । इस क्षेत्र की संस्कृति भी अधिक मानधर्मी है । इस मामले में ये उपन्यास स्त्री विमर्श को और समृद्ध करते हैं ।

दूसरी विशेषता यह है कि पूर्वोत्तर भारत का जन जीवन अपने पर्यावरणीय मूल से उतना विच्छिन्न नहीं है जितना अन्य स्थानों का । इन उपन्यासों में भी प्रकृति की मौजूदगी मानक अस्तित्व में घुली मिली चित्रित हुई है । यदि इन उपन्यासों का गहन विश्लेषण हो तो हिन्दी में अन्यथा अपरिचित पर्यावरणीय चेतना को भी नया आयाम मिलेगा।

तीसरी विशेषता यह है पूर्वोत्तर भारत जिन अनुभवों से होकर गुजरा है वह शेष भारत का नहीं रहा है । सामाजिक संस्थाओं का विकासक्रम, औपनिवेशिक शासन के आगमन से पैदा हुआ संक्रमण, स्वतंत्र भारत में इन समाजों की स्थिति- शेष भारत से भिन्न रही है । इन उपन्यासों के अध्ययन से सांस्कृतिक संक्रमण की पीड़ा को भी गहराई से समझा और समझाया जा सकता है ।

इन सभी उपन्यासों में न सिर्फ स्थानीय समुदाय, बल्कि उनकी संस्कृति, त्यौहार, भाषा, मुहावरों का समृद्ध खजाना है । इनमें मौजूद इस समृद्धि की पहचान भी आवश्यक है । इस मामले में यात्रा वृत्तांतों के मुकाबले ये उपन्यास जनजीवन पर केंद्रित होने के कारण इस क्षेत्र के मनुष्य की अधिक प्रामाणिक तस्वीर प्रस्तुत करते हैं ।

संदर्भ सूची :

१. मेरा आशय यहाँ चाय बागानों में काम करने के लिए बिहार और उत्तर प्रदेश से लाए गए मजदूरों से है ।

२. देखें, 'अपना कमरा', संवाद प्रकाशन, मेरठ, २००२

३. देखें, 'उपन्यास', चिंतामणि भाग - ३, सं. नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९८५

४. देवेंद्र सत्यार्थी, ब्रह्मपुत्र, ज्ञान गंगा, दिल्ली, १९९२, पृ. ७

५. वही, पृ. ११

६. प्राक्कथन, जहाँ बाँस फूलते हैं, श्रीप्रकाश मिश्र, पार्श्व प्रकाशन, अहमदाबाद, १९९६

७. जहाँ बाँस फूलते हैं, वही, पृ.१३८-१३९

८. वही, पृ. १३४

९. ब्लर्ब, मुक्ति, डॉ. महेंद्रनाथ दुबे, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, १९९९
१०. वही
११. भूमिका, मुक्ति, वही, पृ.९
१२. उत्तर पूर्व, लालबहादुर वर्मा, इतिहास बोध प्रकाशन, इलाहाबाद, २००२, पृ. ७
१३. वही, पृ. ९
१४. वही, पृ. ७१
१५. वही, पृ. १७१
१६. वही, पृ. १७३
१७. आमुख, रूपतिल्ली की कथा, श्रीप्रकाश मिश्र, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद २००६
१८. रूपतिल्ली की कथा, वही, पृ.१७५

प्रवक्ता, हिंदी विभाग
असम विश्वविद्यालय,
सिलचर ७८८८०११ (असम)